फातिमा (पुर्त्तगाल)
२२ अप्रैल, २००५

संदेश संख्या – ७८

अष्टावक्र गीता

(संदेश ७७ से आगे)

४१. ध्यान करना
मन को नियन्त्रित करना
ये केवल चित्तविक्षेप हैं ।
चैतन्य अभी और यहीं है,
चैतन्य ही ध्यान है।

४२. करना या न करना
दोनों निकलते अज्ञान से
जान लेते हो जब इसे पूर्णतया,
चैतन्य है यहीं ।

४३. विचारना
कि विचार के परे क्या है ?
विचारना ही है ।
मैं छोड़ता हूँ विचारना,
और चैतन्य यहीं है ।

४४. अपने शरीर और चित्तवृत्ति से बंधा
खोजी आग्रहपूर्वक प्रयत्न करता है
या स्थिर बैठ जाता है
किन्तु चैतन्य 'मैं'
नहीं मानता कि
यह शरीर मेरा है
या मेरा नहीं है
और मैं सुखी हूँ ।

४५. चैतन्य 'मैं'
मुक्त हूँ
अतीत के दबावों से
भविष्य की कल्पनाओं से
मैं सोता हूँ, बैठता हूँ, चलता हूँ,
और मैं सुखी हूँ ।

४६. त्याग दिया मैंने जीतने का आनंद
हारने का दुःख
और मैं सुखी हूँ ।

४७. और त्याग दिया मैंने
अच्छा और बुरा,
और अब मैं सुखी हूँ ।

४८. मैं चीजों के बारे में सोचता हूँ
बिना सोचे हुए,
मेरे सारे विचार
दुनियादारी के बारे में
विलीन हो चुके हैं ।

४९. जब तुम हो जाते हो
''मैं'' रूपी चित्तवृत्ति से मुक्त
''मेरा'' रूपी मोह से मुक्त
तब तुम जानो
तुम हो मुक्त
तुम हो प्रसन्न
तुम्हीं हो चैतन्य ।

५०. शरीर सीमित है
अपने सहज गुणों से ।
यह आता है,
थोड़े समय तक रहता है
और चला जाता है,
लेकिन चैतन्य
न आता है न जाता है
अतः शरीर के लिए सोच क्यों ?
शरीर अन्त काल तक बचा रहे;
या आज न हो जाय,
चैतन्य तुम क्या जीतोगे या क्या हारोगे ?

५१. तुम चैतन्य हो
स्वच्छ आकाश हो
शुद्ध और स्थिर,
जिसमें न होता जन्म,
न मृत्यु,
न मन की गतिविधि,
और
न ''मैं''।

५२. सभी प्रयोजनों से स्वयं को कर लो मुक्त,
और सुखी हो जाओ ।

५३. मन को कभी भी दुविधाग्रस्त न करो
हाँ और ना से
शान्त हो जाओ;
तुम चैतन्य स्वयं हो
जीओ अपने स्वप्रकृति के सुख में
जो कि स्वयं सुख है ।

५४. ध्यान करना त्याग दो
अपने मन में कुछ भी न रखो
क्योंकि
तुम ही चैतन्य हो,
और तुम मुक्त हो ।

५५. तुम पढ़ सकते हो,
चर्चा कर सकते हो
धर्मशास्त्र,
जितना तुम चाहो
लेकिन जब तक तुम त्याग नहीं देते
सबकुछ,
तुम कभी नहीं जी सकोगे
'स्व'में ।

५६. चाहना–पाना है मूल दुःख का
लेकिन इसे समझता कौन है ?
जब तुम धन्य हो जाते हो
इस शिक्षा की समझदारी से
तुम मुक्ति पा लेते हो ।

५७. लेकिन यदि तुम कुछ नहीं इच्छा रखते
और कुछ नहीं घृणा करते
तब तुम्हें बाँध नहीं सकती
आसक्ति या विरक्ति ।

५८. जब इच्छाएँ गतिशील होती हैं,
उत्पन्न होती हैं भावनाएँ
रुचि और अरुचि की
अनुराग और विराग की
जो मूल और शाखाएँ हैं
संसार की ।

५९. लेकिन प्रज्ञावान
एक शिशु है,
जो सदैव
मुक्त है
सभी द्वन्द्वों से,
न किसी के प्रति अनुकूल
न प्रतिकूल ।

६०. हरि तुम्हें शिक्षा दें
या पद्मोत्पन्न ब्रह्मा,
या स्वयं शिव,
जब तक त्याग न देते तुम
सबकुछ
कभी भी, कुछ भी,
न जान पाओगे तुम ।

६१. कुछ विलास की लालसा रखते है
कुछ खोजते हैं मुक्ति
लेकिन कठिन है पाना
ऐसा व्यक्ति,
जो कुछ भी नहीं चाहता ।

६२. दर्प रहित या विनम्रता रहित
उसे कुछ भी नहीं उत्तेजित करता
उसे कुछ भी नहीं आश्चर्यचकित करता ।
क्योंकि वह मुक्त है,
वह न लालसा रखता, न घृणा करता
सांसारिक वस्तुओं के प्रति ।
वह उन्हें उसी रूप में लेता है,
जिस रुप में वे उपस्थित होती हैं उसके समक्ष ।
वह चिन्तित नहीं
ध्यान के लिए
या उसके अभाव में,
या अच्छे और बुरे के संघर्ष में ।
वह सबके परे, केवल अस्तित्व है,
न ''मैं''
न मेरा ।

६३. उसका मन निश्चेष्ट हो गया है,
वह सहज ही विगलित हो चुका है...
और इसके साथ,
न हो गये हैं
स्वप्न, भ्रांति
तथा मतिमन्दता ।

६४. अविक्षिप्त
ध्यान नहीं करता ।
अबद्ध
मुक्ति नहीं खोजता ।
वह संसार को देखता है,
और जानता है–
यह एक भ्रम है ।
वह व्यस्त रहता कर्मों में,
फिर भी निष्काम रहता है,
यही ध्यान है,
यही मुक्ति है ।
६५. मूर्ख अभ्यास करते हैं
एकाग्रता का
मन के नियंत्रण का ।
किन्तु मन का स्वामी होता है वह
जो सुप्त है फिर भी जागरण में है,
विश्राम में है,
अकर्म में है ।
६६. इस संसार में लोग
अनेकानेक मार्गों में उलझ जाते हैं
और विमुख हो जाते हैं
चैतन्य से
परमप्रिय से
जाग्रत, शुद्ध,
निरंजन और पूर्ण से ।
६७. लेकिन इच्छारहित व्यक्ति होता है
शेर की तरह ।
६८. सत्य सुनकर ही हो जाता वह
आकाशवत्
और हो जाती उसकी
चेतना 'शुद्ध' ।
वह तटस्थ होता है
प्रतिस्पर्द्धा और स्थिरता के प्रति
वह तटस्थ होता है
अपनी ही तटस्थता के प्रति ।
६६. आत्मनिर्भर
सुख पाता है,
आत्मनिर्भर
मुक्ति पाता है,
आत्मनिर्भर
संसार से परे चला जाता है
और आत्मनिर्भर
पथ का अंत पा लेता है ।
७०. उसके लिए, दुःख में दुःख नहीं,
सुख में सुख नहीं ।
केवल वही, जो उसके सदृश है
उसके उदात्त अवस्था को जान पाता है ।

७१. चित्तवृत्ति का स्वामी
समस्त कर्मों में
संलग्न रहते हुए भी
पूर्ण समत्व में रहता है,
सुखी है जब वह बैठता है,
जब वह वार्ता करता है
जब वह खाता है,
वह सुखी है सोते हुए
सुखी है आते और जाते हुए ।

७२. स्वामी है अकाशवत्
निर्विकार
संसार क्या है ?
उसका प्रतिबिम्ब ?
उसे चिन्ता नहीं चाहत की
या चाहत के अंत की ।

७३. सत्य सुनने के बाद भी
मूर्ख अपनी मूर्खता से चिपके रहते हैं ।
वह कठिन प्रयास करता है दिखाने के लिए
शांत और धीर,
लेकिन अंदर वह होता है लालच से पूर्ण ।

७४. इच्छा रहित व्यक्ति ही केवल
बिना देखे देखता है,
बिना बोले बोलता है;
बिना जाने जानता है ।

७५. वह बिना सोचे सोचता है
बिना अनुभव किए अनुभव करता है
वह प्रज्ञावान है
मन के परे है ।
उसके पास केवल कुछ संदर्भ बिन्दु होते हैं,
लेकिन उसके पास स्वयं के लिए कोई विचार नहीं होता ।

७६. चित्त के विक्षेपों के बीच,
वह अविक्षिप्त है ।
ध्यान में,
वह ध्यान नहीं करता ।
मूर्ख दिखता है,
किंतु वह मूर्ख नहीं है ।
सब कुछ जानकर;
वह कुछ नहीं जानता ।

७७. अतीत क्या है ?
भविष्य
या वर्तमान क्या है ?
आकाश क्या है ?
या नित्यता क्या है ?
मैं अपने आत्मतेज में रहता हूँ ।

७८. मैं अपनी आत्मदिप्ति में रहता हूँ,
और मुझे भय नहीं ।
विचरना,
स्वप्न देखना,
शयन करना,
इनका मेरे लिए क्या अर्थ है ?
या परमानन्द का भी ?
क्या दूर, क्या पास ?
क्या बाहर, क्या भीतर ?
क्या स्थूल, क्या सूक्ष्म ?
मैं 'स्व' की भव्यता में रहता हूँ ।

७६. मैं सर्वदा निर्विचार
क्या सुख, क्या दुःख ?
क्या तब और क्या अभी,
या परे ?

८०. क्योंकि मैं अबद्ध हूँ,
मैं शिव हूँ ।
मुझमें कुछ भी उत्पन्न नहीं होता,
जिसमें कुछ भी एक नहीं,
कुछ भी दो नहीं,
कुछ नहीं है;
कुछ नहीं भी नहीं है ।
कहने को और शेष क्या है ?

उपसंहार

समझदारी की ऊर्जा शायद शून्यता की असीम सत्यता है जिसमें शरीरी चेतना पूर्ण रूपेण जाग्रत होती है अर्थात् वहाँ कोई शब्द नहीं होता, कोई छवि नहीं होती, कोई अनुभव नहीं होता । तब शून्यता के पवित्र आकाश के होने के लिए, अनुभव के संरचना को स्थगित कर दिया जाता है। यह वह आकाश नहीं जिससे हमलोग परिचित हैं । यह आकाश में स्थित वस्तुओं से निर्मित नहीं होता, अर्थात् यह वस्तुओं के बीच की दूरी और समय से नहीं बनता । पवित्र आकाश में सभी दूरी, द्वैत, और काल के भेद लुप्त हो जाते हैं । ऐसी पूर्ण और शर्त रहित मुक्ति ही परम प्रज्ञा है । इससे इतर अलगाव है, विखंडन है, दुःख है, क्षोभ है तथा मानवीय परिस्थिति का बोझ है, बंधन है ।

जय गुरु